।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष छठवाँ
अंक ग्यारहवाँ

७१

फाल्गुन
२४७७

अमृत-पान करो!

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य जीवों! तुम इस सम्यग्दर्शनरूपी अमृत को पियो। यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुख का भण्डार है, सर्व कल्याण का बीज है और संसार-समुद्र से पार उतरने के लिए जहाज है; एकमात्र भव्य जीव ही इसे प्राप्त कर सकते हैं। पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए यह कुल्हाड़ी के समान है, पवित्र तीर्थों में यही एक प्रकार तीर्थ है और मिथ्यात्व का नाशक है।

एक अंक
चार आना

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

जैन स्वाध्यायमन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

१- सिद्धि का उपाय
२- देशनालब्धि
३- एकत्व स्वभाव और द्वैतभाव
४- अनुपम मोक्षमार्ग

अनुपम मोक्षमार्ग

पुण्य-पाप विकारभाव से रहित मोक्षगति को किसी की उपमा नहीं मिलती; इसलिए उस पंचमगति से विरोधी भाव ऐसे पुण्य-पाप और देहादि की जो क्रिया है, उससे मुक्ति नहीं मिलती, क्योंकि पुण्य-पाप के भावों द्वारा चार गति का बन्धन होता है, जिस भाव द्वारा बन्धन की प्राप्ति होती है, उसी से मुक्ति नहीं मिल सकती, और न उसके द्वारा मुक्ति के मार्ग का प्रारम्भ होता है। तथा जिस भाव से मुक्ति होती है, धर्म का प्रारम्भ होता है, उस भाव द्वारा किंचित् बन्धन नहीं होता। इसलिए मोक्ष की भाँति मोक्षमार्ग को भी किसी पुण्यादि की उपमा नहीं है। क्योंकि वह पुण्य-पाप के आश्रय से रहित अन्तरंग मार्ग है, बाह्य क्रियाकाण्ड का वह मार्ग नहीं है। इसलिए आत्मस्वभाव में धर्म साधन करने के लिए प्रारम्भ में ही पुण्य-पाप की उपाधि रहित पराश्रय रहित–स्वतन्त्र सिद्ध परमात्मा समान स्वभाव ही एक उपादेय है–ऐसा मानना पड़ेगा; उस स्वभाव की श्रद्धा, उसकी प्रतीति और उस स्वरूप में स्थिरता करनेरूप अन्तरंग-क्रिया ही स्वतन्त्र उपाय है–यही मोक्ष का मार्ग है..... मोक्षमार्ग को बाह्य शुभ प्रवृत्तियों के साथ कोई समानता नहीं है; इसलिए मोक्ष को और मोक्षमार्ग को कोई उपमा नहीं दी जा सकती; क्योंकि मोक्ष और मोक्षमार्ग–इन दोनों स्वरूप आत्मा के परिणाम आत्मा में ही हैं; मोक्ष और मोक्ष का उपाय–दोनों परश्रय रहित स्वतन्त्र हैं।

फाल्गुन
२४७७

आत्मधर्म

वर्ष छठवाँ
अंक–११

सिद्धि का उपाय

[लींबडी शहर में वीर सं० २४७६ के पौष शुक्ला ५ के दिन
श्री पद्म० एकत्व अधिकार गाथा ३३ पर पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

आत्मा का जानने का स्वभाव शुद्ध निर्मल है। क्रोधादि विकार उसका स्वभाव नहीं है। जिस प्रकार स्फटिक में लाल, काली झलक दिखलायी देती है, वह उसकी अवस्था में विकार है, और स्फटिक का मूलस्वभाव शुद्ध उजला है। उसी प्रकार आत्मा में दया या क्रोधादि भाव होते हैं, वह विकार है, मूलस्वभाव से तो आत्मा शुद्ध ज्ञानमय है।

आत्मा अनादि-अनन्त स्वयं-सिद्ध तत्त्व है, वह किन्हीं संयोगों से निर्मित नहीं है और न नष्ट होकर किसी में एकमेक हो जाता है। प्रत्येक आत्मा में परिपूर्ण ज्ञानसामर्थ्य भरा है। जिसप्रकार लैंडी पीपल में चौंसठ पुटी चरपराहट भरी हुई है; 'यदि वह ऐसे की ऐसी खायी जाये तो उसका स्वाद नहीं आता, लेकिन उसे घिसने से वह चरपराहट प्रगट होती है। भीतर जो शक्ति भरी थी वही प्रगट हुई; यदि स्वभाव में न हो तो संयोग में से नहीं आ सकती। और निमित्त आया, इसलिए वह चरपराहट प्रगट हुई;–ऐसा भी नहीं है। पदार्थ में शक्तिरूप स्वभाव त्रिकाल है, उसके प्रगट होने के स्वकाल में योग्य निमित्त का योग सहज ही बन जता है। संयोग में से स्वभाव प्रगट नहीं होता; किन्तु जिसे वस्तु का स्वभाव दिखायी नहीं देता और संयोग पर दृष्टि है,–वह संयोगी निमित्त से स्वभाव का प्रगट होना मानता है। लैंडी पीपल के दृष्टान्त से आत्मा में भी समझना चाहिए कि– आत्मा में पूर्ण ज्ञान शक्तिरूप से है, उसका विश्वास करके एकाग्र होने से अवस्था में पूर्णज्ञान प्रगट होता है। वह ज्ञान बाह्य संयोगों में से नहीं आया है, किन्तु स्वभाव शक्ति में था–उसी में से प्रगट हुआ है। अपने स्वभाव को अस्वीकार न करके, संयोग को देखता है, उस जीव को कभी निर्मल दशा प्रगट नहीं होती।

द्रव्य स्वभाव से आत्मा अनादि-अनन्त नित्य एकरूप शुद्ध होने पर भी अनित्य अवस्था

में विकार है। यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि आत्मा के एकरूप स्वभाव के आश्रित बुद्धि, वह सिद्धि का उपाय है, इसके अतिरिक्त बन्ध और मोक्ष, राग और द्वेष, कर्म और आत्मा तथा शुभ और अशुभ, इस प्रकार जो द्वैत आश्रित बुद्धि है, वह असिद्धि है अर्थात् वह बुद्धि निजानन्द शुद्ध अद्वैत स्वरूप को रोकनेवाली है। बन्ध टालूँ और मोक्ष प्रगट करूँ—इस प्रकार अवस्था के भंग-भेद आश्रित विकल्प में ही रुका रहे और अभेद एक स्वभाव सन्मुख न हो तो जीव को धर्मदशा प्रगट नहीं होगी।

शरीर-मन-वाणी मैं हूँ और पुण्य-पाप विकार जितना ही मैं हूँ—ऐसा मानकर अनादि से जीव अपने सहज स्वभाव को भूला है। यदि यह भूल न हो तो वर्तमान प्रगट आनन्द होना चाहिए; क्योंकि वस्तु स्वयं आनन्दस्वरूप है, उसे अपने स्वभाव से दुःख नहीं हो सकता। लेकिन उसका भान भूला हुआ है, इससे वह आनन्द प्रगट नहीं है और पर में आनन्द खोजता है। अवस्था में भूल और विकार अनादि से होने पर भी, स्वभाव उनमें एकमेक नहीं हो गया है। जिस प्रकार गन्ने में रस और कूचा मूल से एकमेक होने पर भी स्वभाव से पृथक् हैं, इसलिए पृथक् हो जाते हैं; उसी प्रकार आत्मा में सर्वज्ञस्वभाव और विकार दोनों अनादि से हैं, किन्तु परमार्थ से दोनों पृथक् हैं। आत्मा का स्वभाव विकाररूप नहीं हो गया है। उस स्वभाव के भान से और एकाग्रता से विकार दूर होकर सर्वज्ञता प्रगट होती है।

जिस प्रकार स्फटिक में लाल, पीले फुल के संयोग से लाल-पीली झलक पड़ती है, वह उसके स्वभाव में नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूपी आत्मा की अवस्था में शुभ या अशुभ विकार होते हैं, वे नवीन उत्पन्न हुए हैं, आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं। हिंसा, चोरी आदि पाप भाव हैं और दया-दान आदि पुण्य भाव हैं,—वे दोनों दोष हैं, आत्मा का यथार्थ स्वभाव नहीं है। और प्रारब्ध कर्म ने भी वह दोष नहीं कराया है; अपना सत्-चित्—आनन्द स्वभाव है, उसका यथार्थ अस्तित्व भूलकर अन्य प्रकार से माना—इसी से स्वयं अवस्था में दोष किया है। वस्तु स्वभाव जैसा है, वैसा न्याय से समझना चाहिए। न्याय शब्द में 'नी' धातु है, नी का अर्थ है ले जाना। ज्ञान को आत्मस्वभाव की ओर ले जाना ही न्याय है।

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा ज्ञान का बिम्ब है। जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक में जो झलक दिखाई देती है—वह उसका मूलस्वरूप नहीं है, उसी प्रकार ज्ञायक बिम्ब आत्मा में जो विकार है, वह उसका मूलस्वरूप नहीं है। स्वयं ज्ञान-आनन्द स्वभावी परिपूर्ण पदार्थ है, तथापि अन्य प्रकार से अपना अस्तित्व मान लिया है। रागादि क्षणिक विकाररूप ही अपना अस्तित्व स्वीकार करता है और मेरा शरीर, पैसादि के बिना नहीं चल सकता—ऐसा मानता है,—उस मान्यता में पराश्रय और

भिखारीपना है। 'आत्मा है'–ऐसा स्थूलरूप से तो आत्मा का अस्तित्व आस्तिक लोग मानते हैं, परन्तु जिस प्रकार अपना अस्तित्व है, उस प्रकार यथार्थ रूप से कभी नहीं जाना है, परन्तु विपरीतरूप से मान रखा है।

प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वभावी है, पदार्थों को जानने का उसका स्वभाव है; उसमें विकार करे तो आत्मा इच्छा करता है, परन्तु शरीरादि पदार्थों में वह कुछ परिवर्तन नहीं कर सकता। आत्मा कर्ता और जड़ में उसका कार्य–ऐसा कदापि नहीं होता। कर्ता का इष्ट, वह कर्म है, अर्थात् क्या? अज्ञानी विकार की रुचि से विकार का कर्ता होता है, और ज्ञानी स्वभाव की रुचि से निर्मल भाव का कर्ता होता है, किन्तु जड़ की अवस्था का कर्ता जड़ है। लोग धर्म करना चाहते हैं, परन्तु धर्म का कर्ता आत्मा कौन है? और धर्मी आत्मा का कर्म क्या है? उसके भान बिना धर्म नहीं होता।

जड़ कर्म परवस्तु में हैं, कोई परवस्तु आत्मा को आवरण नहीं करती। मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं मनुष्य हूँ–ऐसी मान्यता से जीव अपने ज्ञाता-दृष्टा आत्मा को भूला, वह मिथ्या भ्रान्ति है, वह अज्ञानी का कर्म है, और वही भाव आवरण है। उस मिथ्याभ्रान्ति का छेदन कैसे हो? उसकी यह बात है। आचार्य भगवान कहते हैं कि–एकत्व चैतन्यस्वभाव का आश्रय, वह मुक्ति का कारण है, और द्वैत के आश्रय में रुकना, वह बन्धन है।

बन्ध और मोक्ष–ऐसे दो भेद अखण्ड एकरूप वस्तु के स्वभाव में नहीं हैं; क्षणिक अवस्था में बन्ध और मोक्ष हैं। अवस्था में एक समयपर्यंत का विकार, वह बन्धन हैं, और निर्विकारीदशा, वह मोक्ष है। बन्ध और मोक्ष की अवस्था जितना त्रिकाली द्रव्य नहीं है। इससे बन्ध और मोक्ष–ऐसे द्वैत की दृष्टि से, सम्यग्दर्शन का विषयभूत अखण्ड आत्मा प्रतीति में नहीं आता। मोक्षदशा का उत्पाद् और बंधदशा का व्यय–ऐसे द्वैत का आश्रय करने से राग की उत्पत्ति होती है; और ध्रुवरूप अनादि-अनन्त एकरूप स्वभाव का आश्रय करने से निर्मल दशा प्रगट होती है,–वह मुक्ति का कारण है।

त्रिकाली स्वभाव में बन्ध-मोक्ष का द्वैत नहीं है–ऐसा बतलाकर अभेद स्वभाव का आश्रय कराना है। परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा की अवस्था में भी बन्धन नहीं है। आत्मा की अवस्था में बन्धन है और वह अपने ही अपराध से है, उस बन्धन को यदि न माने तो उसे दूर कौन करेगा? जैसे–मुँह पर दाग है, उसके बदले दर्पण में दाग मानकर दर्पण को घिसने लगे तो दाग दूर नहीं होगा। दाग अपने मुँह पर है–ऐसा जाने और दाग रहित अपना रूप है–उसे जाने तो दान को घिसकर दूर कर सकता है। उसी प्रकार आत्मा की अवस्था में बन्धन है, उसे न माने और पर के कारण बन्धन माने तो उसे बन्धन तोड़ने के लिए परसन्मुख ही देखना रहा, स्वसन्मुख होना नहीं

रहा; इसलिए उसका बन्धन दूर नहीं होगा। अपनी अवस्था में क्षणिक विकार है और पूर्ण स्वरूप निर्मल है—ऐसा जाने तो निर्मल स्वरूप के बल से विकार दूर करे। जो बुद्धि आत्म का सम्पूर्ण निर्मल स्वरूप और अवस्था का विकार—दोनों को न जाने, वह बुद्धि मिथ्या है।

चैतन्यस्वभाव शुद्ध होने पर भी उसकी वर्तमान अवस्था में पुण्य-पाप विकार है। वह विकार किसी परवस्तु के कारण नहीं होता, और वह आत्मा का स्थायी स्वभाव भी नहीं है। पुण्य-पाप की क्षणिक विकारी वृत्ति रहित जो स्थायी ज्ञानस्वभाव है, उसे पहचानना, वह धर्म है। बन्ध और मोक्ष—यह दोनों दशाएँ क्षणिक हैं, मोक्ष भी आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं है। बन्ध को दूर करूँ और मोक्ष प्रगट करूँ, इस प्रकार क्षणिक बन्ध-मोक्ष अवस्था के द्वैत का ही आश्रय करता रहे परन्तु त्रिकाली द्रव्य का आश्रय न करे तो मिथ्यात्व और राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। और यदि चैतन्य में क्षणिक बन्ध-मोक्ष की अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें बिल्कुल न माने तो चैतन्य की ही नास्ति मानने जैसा है; क्योंकि चैतन्य द्रव्य को अस्ति की स्वीकृति तो वर्तमान क्षणिक पर्याय द्वारा होती है, उस पर्याय को ही स्वीकार न करे तो त्रिकाली द्रव्य को किसके द्वारा स्वीकार करेगा? इसलिए जैसा है, वैसा वस्तु स्वरूप जानना चाहिए।

देखो, पहले ज्ञान की दशा अल्प होती है, और फिर विशेष ज्ञान होता है। अल्प ज्ञान की दशा दूर होकर अधिक ज्ञान की दशा हुई—वह ज्ञान कहाँ से आया? किसी निमित्त में से या राग में से वह ज्ञान नहीं आया है; अल्प ज्ञान की दशा गई, उसमें से भी वह विशेष ज्ञान नहीं आया है, परन्तु अनन्त ज्ञान सामर्थ्य से ध्रुवरूप स्वभाव है, उस स्वभाव में से ही ज्ञानदशा प्रगट होती है। इसलिए उस अखण्ड स्वभाव के आश्रय से ही सम्यक्श्रद्धा ज्ञान-चारित्र होता है। चैतन्यतत्त्व को पर से तो कल्याण नहीं है, अशुभभाव से या शुभभाव से भी कल्याण नहीं है, तथा अपूर्ण दशा दूर करके पूर्ण दशा प्रगट करूँ—इस प्रकार यदि अवस्था का ही आश्रय करके रुके तो भी स्वभावोन्मुख होना नहीं बनता अर्थात् विकार की उत्पत्ति होती है। और 'मैं ज्ञान' 'मैं दर्शन'—ऐसे गुण-भेद के द्वैत के विचार से भी आत्मा का कल्याण नहीं होता।

हे जीव! तुझमें चैतन्यस्वभाव को समझने की शक्ति है—ऐसा जानकर ज्ञानी यह उपदेश करते हैं। लोग भी, जिसमें समझने की शक्ति होती है, उसी से कहते हैं कि पानी लाना। लेकिन भैंसे से या दो महीने के बालक से कोई पानी लाने के लिए नहीं कहते; क्योंकि उनमें वैसी शक्ति नहीं है। उसी प्रकार यह चैतन्यस्वभाव को समझने का उपदेश जड़ को या एकेन्द्रियादि को नहीं देते हैं, लेकिन जिनमें चैतन्यस्वभाव को समझने की शक्ति है, उन्हीं को उपदेश दिया जाता है। तुझमें समझने की शक्ति है—ऐसा जानकर ज्ञानी कहते हैं कि तू आत्मा को समझ। ऐसा होने पर

भी जो कहता है कि 'यह बात मेरी समझ में नहीं आ सकती'—तो वह अपनी चैतन्यशक्ति का और ज्ञानियों का अनादर करनेवाला है। अन्तर में चैतन्य तत्त्व क्या है, उसे समझे बिना जीव पुण्य-पाप करके अनन्तबार स्वर्ग में और नरक में गया है, महान सम्राट और भिखारी भी अनन्तबार हुआ है—वह कुछ नवीन नहीं है। पुण्य-पाप रहित आत्मस्वभाव क्या है, उसको समझ लेना अपूर्व है। पूर्व में कभी एक क्षणमात्रा भी आत्मा को नहीं समझा है। जैसे-पहाड़ पर बिजली गिरे और उसके सैकड़ों टुकड़े हो जायें तो फिर वे नहीं जुड़ सकते, उसी प्रकार यदि एक क्षणमात्र भी आत्मस्वभाव को यथार्थ समझ ले तो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे, और पुनः उसे अवतार न हो।

लोगों को अन्तर में चैतन्य को समझ लेने की महिमा नहीं आती और बाह्य क्रियाओं से या पुण्य-भाव से ही चैतन्य की महिमा मानते हैं। जिस प्रकार पचास मन की भैंस कूदाकूद करे, तथापि खुटा नहीं हिलता, वहाँ लोग, खुटे की शक्ति न देखकर भैंस की शक्ति को देखते हैं; उसी प्रकार लोग बाह्य संयोग से, बाह्यवेष से और बाह्य, त्याग से तथा शुभराग से चैतन्य के धर्म का माप निकालते हैं, किन्तु धर्मी के अन्तर में ध्रुव चैतन्यस्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई है—उस अपूर्व धर्म को वे नहीं पहचानते। धर्म किसी बाह्य क्रिया में या पुण्य में नहीं है, परन्तु अन्तर स्वभाव की प्रतीति करके उसकी श्रद्धा-ज्ञान करने में धर्म है।

क्रोध हो, वहाँ मानो इस क्रोधरूप ही मेरा अस्तित्व है—इस प्रकार क्षणिक क्रोध को ही अज्ञानी देखते हैं, परन्तु क्रोध के पीछे उसी समय सम्पूर्ण वीतराग स्वभाव है, उसे वे नहीं जानते। जड़ लकड़ी में क्रोध नहीं होता क्योंकि उसमें क्षमागुण नहीं है। जीव में क्रोध होता है, वह अन्तर में त्रिकाली क्षमागुण का अस्तित्व बतलाता है। जब उस क्षमागुण की विकृति होती है, तब क्रोध होता है। जड़ में क्षमागुण नहीं है, इससे उसकी विकृतिरूप क्रोध भी नहीं है।

रति और अरति अर्थात् राग और द्वेष—वह द्वैत है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव एक प्रकार का है, उसमें राग और द्वेष का द्वैत नहीं है। राग-द्वेष के द्वैत के आश्रय से आत्मस्वभाव की रुचि नहीं होती। राग-द्वेष रहित चैतन्यस्वभाव की रुचि होने के पश्चात्, अल्प रति-अरति होती है, तथापि वह मैं नहीं हूँ—ऐसा ज्ञानी जानते हैं। अनुकूल या प्रतिकूल संयोग के कारण तो राग-द्वेष नहीं होते, किन्तु अपनी असावधानी से होते हैं। वे राग-द्वेष के भाव मेरे स्वभाव से द्वैत हैं—अन्य हैं, वह मेरा स्वभाव नहीं है। अपने एकत्व चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ही धर्म और मुक्ति होते हैं।

उपरान्त, कर्म और आत्मा—ऐसा द्वैत है। इस जगत में आत्मा से अन्य ऐसे जड़ कर्म हैं। आत्मा स्वयं विकार करे, तब जड़ कर्म का उदय निमित्तरूप से होता है, किन्तु वे जड़ कर्म आत्मा

के धर्म को नहीं रोकते। 'कर्म में लिखा होगा तो धर्म होता'–ऐसा नहीं है। बाह्य संयोग का बनना, वह प्रारब्ध कर्म के अनुसार है; परन्तु धर्म तो आत्मा के पुरुषार्थ अनुसार होता है। प्रारब्ध कर्म और आत्मा दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं; एक का दूसरी में अभाव है। यदि आत्मा और कर्म दोनों का एक दूसरे में अभाव न हो तो दोनों का भिन्न अस्तित्व नहीं रहता। आत्मा और कर्म दोनों वस्तुएँ हैं, अवश्य, किन्तु 'यह कर्म है और मैं आत्मा हूँ'–इस प्रकार दोनों का ही विचार करता रहे, और कर्म का लक्ष्य छोड़कर आत्मा के एकत्व स्वभाव की ओर उन्मुख न हो, तो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट नहीं होते। इस प्रकार बन्ध और मोक्ष, राग और द्वेष, तथा कर्म और आत्मा–ऐसे द्वैत की बुद्धि छोड़कर अखण्ड आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान तथा उसमें लीनता करने से बन्ध छुटकर मुक्ति होती है।

सम्पादकीय

देशनालब्धि

[२] जैनदर्शन ऐसा गूढ़-गम्भीर है कि कोई जीव गुरुगम के बिना अपने आप शास्त्र पढ़कर या अज्ञानी का उपदेश सुनकर उसका रहस्य (सम्यग्दर्शन) को प्राप्त करले–ऐसा नहीं हो सकता। गुरुगम से देशनालब्धि मिलना ही चाहिए।

धर्म का प्रारभ सम्यग्दर्शन से होता है। अज्ञानी जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट होने से पहले पाँच लब्धियाँ अवश्य होती हैं, उन पाँच लब्धियों के नामः–(१) क्षयोपशमलब्धि, (२) विशुद्धिलब्धि, (३) देशनालब्धि, (४) प्रायोग्यलब्धि और (५) करणलब्धि।

उनमें से देशनालब्धि का स्वरूप खास समझने जैसा है, और उस सम्बन्ध में वर्तमान अनेक जीवों की भूल हो रही है, इसलिए वह यहाँ दिया जा रहा है। आत्मज्ञानी जीव की वाणी ही देशनालब्धि में निमित्तरूप हो सकता है–इस सम्बन्ध में प्रमाणित प्राचीन शास्त्रों में क्या कहा है, वह यहाँ बतलाते हैं।

[२] श्री लब्धिसार गाथा ६ में देशनालब्धि का स्वरूप इस प्रकार कहा है :–

षड्द्रव्यनवपदार्थोपदेशकर, सूरिप्रभृतिलाभो यः।
देशितपदार्थ धारणलाभो, वा तृतीयलब्धिस्तु॥६॥

उसकी संस्कृत टीका में देशनालब्धि का स्वरूप निम्नप्रकार समझाया है।

'छह द्रव्य और नव पदार्थों का उपदेश करनेवाले आचार्यादि की जो प्राप्ति है अथवा तो उपदष्टि पदार्थ के धारण की प्राप्ति–वह तीसरी लब्धि है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल यह छह द्रव्य हैं; पाँच अस्तिकाय इनमें अन्तर्भूत हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष पुण्य और पाप–यह नव पदार्थ हैं; सात तत्त्व इनमें अन्तंर्भूत हैं। उनका उपदेश करनेवाले आचार्य, उपाध्यादि हैं; उनकी जो प्राप्ति, (अर्थात्) उनकी देशना की प्राप्ति अथवा अधिक काल पूर्व उपदेशित पदार्थों के धारण की प्राप्ति, वह देशनालब्धि है। 'तु' शब्द के द्वारा ऐसा सूचित किया जाता है कि उपदेशकों से रहित नरकादि भवों में पूर्वभव में सुने हुए और धारण किए हुए तत्त्वार्थों के संस्कार बल से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी है।'

लब्धिसार की उपर्युक्त गाथा तथा उसकी टीका पर से देशनालब्धि का स्वरूप स्पष्ट होता है; उसमें 'छह द्रव्य और नव पदार्थों का उपदेश करनेवाले आचार्यादि की जो प्राप्ति अथवा तो उपदिष्ट पदार्थ के धारण की प्राप्ति'–यह शब्द आवश्यक हैं; उसका आशय यह है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले जीव को, सम्यग्दर्शन से पूर्व किन्हीं सम्यग्ज्ञान के धारक आचार्यादि की प्राप्ति तथा उनके उपदिष्ट पदार्थ की धारण की प्राप्ति होनी चाहिए। कदाचित् किसी को वर्तमान भव में वैसे सम्यग्ज्ञानी उपदेशक की प्राप्ति न हुई तो पूर्व भव में ज्ञानी के पास से श्रवण किए हुए और धारण किए हुए तत्त्वार्थ के संस्कार बल से सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन से पूर्व ज्ञानी के पास से देशनालब्धि की प्राप्ति अवश्य हुई होती है। ज्ञानी के उपदेश के अतिरिक्त अज्ञानी के उपदेश से देशनालब्धि हो जाये–ऐसा नहीं होता।

कोई भी मिथ्यादृष्टि हो–फिर भले ही वह द्रव्यलिंगी हो और आचार्यदि नाम का धारी हो; तथापि उसका उपदेश और उसके कहे हुए पदार्थ के धारण की प्राप्ति, उसे देशनालब्धि नहीं कहा जाता।

मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधु को तत्त्वार्थ का सच्चा भाव भासन नहीं होता, इससे उसके उपदेश में सच्चा भाव नहीं आ सकता;–ऐसा होने पर भी, मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधु के शास्त्रानुसार उपदेश से भी किसी जीव को देशनालब्धि और सम्यग्दर्शन हो जाता है–ऐसा कितने ही लोग मानते हैं, वह उनकी एक भ्रमणा ही है।

और कई लोग तो ऐसा मानते हैं कि कोई सम्यग्दृष्टि उपदेशक न हो और मात्र जैन शास्त्रों

का अपने आप अभ्यास करके भी जीव को देशनालब्धि हो जाती है, और उसके बल से सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है।–यह मान्यता भी मिथ्या ही है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी के उपदेश के अतिरिक्त अज्ञानी के उपदेश से या शास्त्रस्वाध्याय से देशनालब्धि होती ही नहीं। सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी का ही छह द्रव्य और नव पदार्थों का उपदेश हो और उसकी धारणा की प्राप्ति हो– उसी को देशनालब्धि कहा जाता है।

यहाँ श्री लब्धिसार की जो गाथा दी है, वही गाथा श्री भगवती आराधना में भी (पृष्ठ ६५५ गाथा २०७९) है।

[३] इसी प्रकार श्री धवल में भी देशनालब्धि के सम्बन्ध में निम्नानुसार कहा है –

'छह द्रव्यों और नव पदार्थों के उपदेश का नाम देशना हैं; उस देशनारूप परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को तथा उपदष्टि अर्थ के ग्रहण, धारण और विचारणा की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं।'

यहाँ सच्ची देशना कौन दे सकता है–उस सम्बन्ध में बतलाया है कि–'देशनारूप परिणत आचार्यादि की उपलब्धि' इस पर से सिद्ध होता है कि आचार्य सम्यग्दृष्टि ही होना चाहिए, नहीं तो उन्हें 'देशनारूप परिणत आचार्य'–नहीं कहा जाता। कोई अज्ञानी द्रव्यलिंगी आचार्य नाम का धारी हो तो उसकी देशना से देशनालब्धि नहीं हो सकती,–ऐसा समझना चाहिए।

[४] अधिगमज सम्यग्दर्शन की व्याख्या कहते हुए तत्वार्थ राजवार्तिक में (अ १ सूत्र ३ की टीका में) कहा है कि–

'जहाँ स्वर्ण की उत्पन्न करने की युक्ति को जाननेवाले पुरुष के प्रयत्न से सुवर्ण पाषाण में से स्वर्ण निकाला जाता है, उसे प्रयत्न जनित कहते हैं, उसी प्रकार जीवादि पदार्थों के स्वरूप के ज्ञाता (विधि उपायज्ञ अर्थात् सम्यग्ज्ञानी) पुरुष के उपदेश से तत्त्वों का स्वरूप जान लेने से जहाँ श्रद्धान होता है, उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।'

यहाँ संस्कृत में 'विधि उपायज्ञ' विशेषण लगा कर सम्यग्ज्ञानी के उपदेश को ही देशनारूप से स्वीकार किया गया है। अज्ञानी वास्तव में 'विधि उपायज्ञ' नहीं है। (यहाँ यह भी समझ लेना कि अधिगमज सम्यग्दर्शन की भाँति निसर्गज सम्यग्दर्शन में भी ज्ञानी के पास से देशनालब्धि अवश्य प्राप्त हुई होती है। अन्तर इतना है कि–अधिगमज सम्यग्दर्शन में वह देशना वर्तमान में प्राप्त हुई है, और निसर्गज में वह पूर्व में प्राप्त हुई है, परन्तु उसके संस्कार वर्तमान में है।)

[५] पण्डित प्रवर आशाधरजी, सागार धर्मामृत की गाथा ६-७ में देशनालब्धि के सम्बन्ध में कहते हैं–

'सम्यग्दर्शन की कारण सामग्री में सदुगुरु का उपदेश अवश्य होना चाहिए।' और इस भरतक्षेत्र में इस समय सदुपदेशक गुरु बहुत थोड़े हैं, इसलिए शोक करते हुए उनका दुर्लभपना दिखलाते हैं।

कलिप्रावृधि मिथ्यारिङ्, मघच्छन्नासु दिक्ष्वह।
खद्योत वत्सुदेष्टारो हो! द्योतंते कंचित् कंचित्ः॥७॥

अर्थ :– इस भरतक्षेत्र में कलिकाल अर्थात् पंचमकालरूपी वर्षाकाल में मिथ्यादृष्टियों के उपदेशरूपी मेघों से सतदुपदेशरूपी सब दिशाऐं ढ़क रही हैं। उसमें जीव-अजीव आदि तत्त्वों का पूर्ण उपदेश देनेवाले 'सुगुरु' खद्योत के समान कहीं कहीं पर दिखलायी पड़ते हैं।

भावार्थ :– जिस प्रकार वर्षाऋतु में सब दिशाएँ मेघों से ढ़क जाती हैं और उसमें सूर्य का प्रकाश न होने से खद्योत (जुगनू) थोड़ा-सा प्रकाश करते हुए कहीं-कहीं पर चमकते हैं, उसी प्रकार इस दुःखम् पंचमकाल में अनेकान्तरूप सम्यक् उपदेश सर्वथा एकान्ती मिथ्यादृष्टियों के उपदेश से ढ़क रहा है। इसका कारण यह है कि चतुर्थ काल में जैसे केवली श्रुतकेवली आदि सूर्य के समान तत्त्वों का प्राकश करते हुए सर्वत्र विहार करते थे, वैसे केवली-श्रुतकेवली वर्तमान समय में नहीं है, केवल 'सुगुरु' आदि उपदेशक खद्योत के समान तत्त्वों का थोड़ा सा स्वरूप प्रगट करते हुए कहीं-कहीं पर दिखलायी देते हैं।'

यहाँ ग्रन्थकार ने सम्यग्दर्शन की कारण समग्रोरूप देशनालब्धि का वर्णन किया है; और इस काल में जिनसे सच्ची देशना की प्राप्ति हो–ऐसे सुगुरु की दुर्लभता बतलायी है। इसलिए देशनालब्धि के लिए सुगुरु ही निमित्त होते हैं, दूसरे निमित्त नहीं होते–ऐसा आशय समझना चाहिए। जिसे सम्यग्दर्शन हो, उसी को सुगुरु कह सकते हैं, अज्ञानी को सुगुरु नहीं कहा जाता।'

[६] मोक्षमार्ग प्रकाशक में वक्ता का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि –

'प्रथम तो जैन श्रद्धान में दृढ़ हो। कारण, यदि स्वयं श्रद्धालु हो तो दूसरों को श्रद्धालु किस प्रकार करेगा? श्रोता तो अपने से भी हीन बुद्धि के घारक हैं; उन्हें कोई सम्यक् युक्ति द्वारा श्रद्धालु किस प्रकार करेगा? और श्रद्धान ही सर्वधर्मों का मूल है। ×××और सम्यग्ज्ञान द्वारा सर्वप्रकार के व्यवहार-निश्चयादिरूप व्याख्यान का अभिप्राय जो पहचानता हो.....'

यहाँ, जिसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हों, वही सच्चा वक्ता हो सकता, इससे उसकी वाणी ही देशनालब्धि का कारण हो सकती है,–ऐसा बतलाया है। जिसे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान न हो–ऐसे अज्ञानी को वक्तारूप से भी नहीं गिना जाता तो, उसकी वाणी देशनालब्धि का कारण कैसे हो? और ऊपर स्पष्ट कहा है कि जो स्वयं अश्रद्धालु हो, वह दूसरों को श्रद्धालु नहीं कर सकता

अर्थात् उसके उपदेश से दूसरे जीवों को देशनालब्धि नहीं हो सकती। और, कोई ऐसा माने कि– अज्ञानी को व्यवहार श्रद्धान होता है, इससे उसकी वाणी से देशनालब्धि हो सकती है, तो यह बात भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि आगे श्रद्धान ही सर्व धर्म का मूल है'–ऐसा लिखा है, इससे निश्चित् होता है कि यहाँ परमार्थ सम्यक्श्रद्धा को ही श्रद्धान माना गया है और यह श्रद्धा ही सर्वधर्म का मूल है। अज्ञानी को जो व्यवहार श्रद्धान होता है, उसे सर्व-धर्म का मूल नहीं कहा जा सकता। और उसके पश्चात् सम्यग्ज्ञान होने की बात भी की है।

इस प्रकार, जिसे यथार्थ सम्यक् श्रद्धा, और सम्यग्ज्ञान हो, वही जैनधर्म का वक्ता हो सकता है और उसकी वाणी ही अन्य जीवों की देशनालब्धि का कारण हो सकती है। अज्ञानी जीव को वक्ता स्वीकार नहीं किया है, इसलिए उसकी वाणी देशनालब्धि का कारण नहीं हो सकती–ऐसा समझ लेना चाहिए।

[७] पर से भिन्न आत्मा के एकत्व की दुर्लभता का वर्णन करते हुए श्री समयसार गाथा ४ का टीका में आचार्यदेव कहते हैं कि–'जीव को अपने में अनात्मज्ञपना होने से और दूसरे आत्मा को जाननेवालों की संगति-सेवा-उपासना नहीं की होने से (भिन्न आत्मा का एकत्व) न पूर्व में कभी सुनने में आया, न कभी परिचय में आया और न कभी अनुभव में आया;– इससे भिन्न आत्मा का एकत्व सुलभ नहीं है।'

यहाँ 'आत्मा को जाननेवालों की संगति–सेवा–उपासना पूर्व में कभी नहीं की'–ऐसा कहकर श्री आचार्यदेव ने देशनालब्धि सिद्ध की है और वह देशनालब्धि ज्ञानी के पास से ही होती है–ऐसा भी बतलाया है। ज्ञानी को सेवा-उपासना करने की बात की है, उसमें देशनालब्धि आ जाती है। अज्ञानी के उपदेश से यदि देशनालब्धि हो जाती हो तो, 'आत्मज्ञानी की सेवा' की बात आचार्यदेव किसलिए करें? यहाँ अनादि अज्ञानी को ज्ञानी बनने की बात ली है, इससे देशनालब्धि ज्ञानी के पास से ही होती है–यह बात रखी है।

जीव को देशनालब्धि होने में निमित्तरूप से ज्ञानी का उपदेश ही होता है–ऐसा समझने से कहीं निमित्ताधीन दृष्टि नहीं हो जाती, परन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान होता है।

[८] और समयसार की आठवीं गाथा की टीका में कहते हैं कि–जब व्यवहार-परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलानेवाले सारथी समान अन्य कोई आचार्य अथवा तो आत्मा शब्द कहनेवाला स्वयं ही....'आत्मा' शब्द का अर्थ समझाता है, तब तुरन्त ही.....समझ जाता है।

यहाँ, सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले जीव को किसका उपदेश निमित्तरूप से होता है, वह दर्शाते हुए श्री आचार्यदेव ने 'सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलानेवाले'–ऐसा विशेषण लगाया है,

वह ऐसा सूचित है कि सम्यग्ज्ञानी आचार्यादिक का ही उपदेश देशनालब्धि के कारणरूप होता है। जो सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलानेवाले न हों, ऐसे अज्ञानी जीवों का उपदेश कभी देशनालब्धि के कारणरूप नहीं होता। देशनालब्धि प्रकरण में जहाँ-जहाँ आचार्यआदि शब्दों का उपयोग किया हो, वहाँ सर्वत्र 'सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलानेवाले'–ऐसा विशेषण न लगाया हो तो भी समझ लेना चाहिए।

[९] देशनालब्धि के सम्बन्ध में कोई जीव ऐसा मानते हैं कि–'मिथ्यादृष्टि की वाणी सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में देशनालब्धि का कारण हो सकती है। वाणी यथार्थ होना चाहिए,'–फिर चाहे वह वाणी सम्यग्दृष्टि के मुख से सुनी हो या मिथ्यादृष्टि के मुख से सुनी हो, अथवा तो शास्त्र में से पढ़ी हो। सभी वाणी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में देशनालब्धि का कारण हो सकती है.... और वे कहते हैं कि–'अभव्य द्वारा यथार्थ प्रतिपादन करनेवाली वाणी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में देशनालब्धि का कारण हो सकती है। आत्मा ऐसा पराधीन नहीं है कि दूसरे सम्यग्दृष्टि आत्मा का सहायता के बिना (–देशना के बिना) कल्याण न कर सके।'–यह मान्यता असत्य है। इस लेख में दिये हुए लब्धिसार, षट्खण्डागम, समयसार आदि के कथनों के साथ विचार करने से इस मान्यता की अयथार्थता ज्ञात हुए बिना नहीं रहेगी।

और, देशनालब्धि में ज्ञानी की ही वाणी निमित्त होती है, दूसरी वाणी निमित्त नहीं होती– ऐसा मानने से आत्मा पराधीन हो जाता है'– ऐसा कोई माने तो वह मान्यता भी मिथ्या है। 'आत्मा ऐसा पराधीन नहीं है कि दूसरे सम्यग्दृष्टि की सहायता के (देशना के बिना) वह अपना कल्याण न कर सके'–ऐसी जो उसकी दलील है, वह न्याय की कसौटी पर चढ़ाने से बिल्कुल भूलयुक्त मालूम होती है; क्योंकि 'देशनालब्धि में ज्ञानी की वाणी निमित्त होती है'– इस सिद्धान्त में से कहीं ऐसा आशय नहीं निकलता कि जीव पराधीन है। लेकिन देशनालब्धि का यह स्वरूप तो निमित्त का यथार्थ ज्ञान कराता है। इसलिए देशनालब्धि के स्वरूप में जीव को सम्यग्दृष्टि गुरु की सहायता लेनी पड़ती है या जीव पराधीन हो जाता है–यह बात सत्य नहीं है। जीव के उपादान में जब सम्यग्दर्शन की योग्यता होती है, तब उसे सम्यग्दृष्टि गुरु का उपदेश स्वयंमेव निमित्तरूप से होता है। देशनालब्धि का निमित्त होने की योग्यता ज्ञानी के उपदेश में ही होती है, अज्ञानी की वाणी में या अन्य जड़ में उस प्रकार की योग्यता नहीं है। इसलिए देशनालब्धि में सम्यग्दृष्टि सद्गुरु का उपदेश ही निमित्तरूप से होता है,–न कि अज्ञानी की वाणी या शास्त्र स्वाध्याय। इस प्रकार देशनालब्धि में निमित्तरूप होने की योग्यता किस पदार्थ में है, वह बतलाया गया है। उसमें जीव की पराधीनता नहीं है, किन्तु उसमें तो ज्ञान की यथार्थता है। अपने कल्याण के लिए दूसरे ज्ञानी

की सहायता लेना पडती है या पराश्रय करना पड़ता है–ऐसा इसका अर्थ नहीं है; लेकिन सम्यग्दर्शन के लिए सम्यग्दृष्टि की ही देशना निमित्त होती है–ऐसा निमित्त का यथार्थ ज्ञान है। जो अज्ञानी आदि की वाणी का भी देशनालब्धि के निमित्तरूप से स्वीकार करते हैं, उन्हें निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं है, और वास्तव में अपने उपादान में भी उन्हें देशनालब्धि का यथार्थ भाव प्रगट नहीं हुआ है।

[१०] मिथ्यादृष्टि जीव शास्त्रों का अभ्यास तो करते हैं, लेकिन स्वयं यथार्थ निर्णय करके अनुभव नहीं करते, इससे वे अज्ञानीं ही रहते हैं। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के अर्थ से होनेवाली उनकी प्रवृत्ति में अयथार्थता बताने के लिए मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४० में कहा है कि–'कोई जीव इन शास्त्रों का भी अभ्यास करता है, लेकिन जहाँ जो लिखा है, उसी प्रकार स्वयं निर्णय करके अपना अपनेरूप पर का पररूप तथा आस्रवादिक का आस्रवादिकरूप से श्रद्धान नहीं करता। कदाचित् मुख से यथावत् निरूपण ऐसा भी करे कि जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जाये।'

उपरोक्त कथन का आशय न समझनेवाला कोई ऐसा कहे कि–'द्रव्यलिंगी अज्ञानी को भले ही सम्यग्ज्ञान न हो, तथापि उसके उपदेश से देशनालब्धि हो सकती है।' लेकिन वे इस तात्पर्य को भूल जाते हैं कि वहाँ चलनेवाले प्रकृत विषय में देशनालब्धि का स्वरूप नहीं बतलाना है, किन्तु यह बतलाना है कि मिथ्यादृष्टि जीव शास्त्रों का अभ्यास करने पर भी अज्ञानी क्यों रहते हैं। अज्ञानी द्रव्यलिंगी के शास्त्र का अभ्यास ही नहीं होता–ऐसा कोई माने तो उसे समझाया है कि–अज्ञानी शास्त्र का अभ्यास तो करता है लेकिन स्वयं अनुभव नहीं करता; इसलिए उस कथन का आशय ऐसा बिल्कुल नहीं समझना चाहिए कि अज्ञानी के उपदेश से भी देशनालब्धि होती है। परन्तु श्री लब्धिसार और श्री षटखण्डागम की उपर्युक्त टीका के साथ मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४० के उस कथन को पढ़कर उसका आशय समझना चाहिए कि जिस जीव को पूर्व में किसी ज्ञानी के पास से देशनालब्धि हो गई हो और उसके संस्कार के बल से हो वह जीव वर्तमान में किसी द्रव्यलिंगी-अज्ञानी का उपदेश सुनकर, स्वयं विचार करके, पूर्व में प्राप्त की हुई देशनालब्धि के बल से, द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि उपदेशक को न हो–ऐसा यथार्थ भाव भासन स्वयं प्रगट करता है। वहाँ उसे देशनालब्धि के कारणरूप वर्तमान मिथ्यादृष्टि का उपदेश नहीं है, परन्तु पूर्व का सम्यग्दृष्टि का उपदेश ही कारणरूप है।

और वहाँ (मोक्षमार्ग-प्रकाशक पृ० २४० में) इस प्रकार दृष्टान्त दिया है कि–जैसे कोई लड़का स्त्री का स्वांग धारण करके ऐसा गीत गाये कि जिसे सुनकर अन्य स्त्री, पुरुष कामरूप हो

जाये; लेकिन वह तो जैसा सीखा है, वैसा कहता है, किन्तु स्वयं को उसका कुछ भी भाव भासित नहीं होता, इससे स्वयं कामासक्त नहीं होता; उसी प्रकार यह (शास्त्राभ्यास करनेवाला अज्ञानी) जैसा लिखा है, वैसा उपदेश देता है, लेकिन स्वयं अनुभव नहीं करता..... इससे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। अब, वहाँ दृष्टान्त में अन्य स्त्री-पुरुषों का कामरूप हो जाना लिखा है, उस पर से 'अज्ञानी के उपदेश से अन्य जीव देशनालब्धि प्राप्त कर लेते हैं' – ऐसा सिद्धान्त तो नहीं निकलता, परन्तु उस पर से तो ऐसा सिद्ध होता है कि – जिन स्त्री-पुरुषों को काम के पूर्व संस्कार थे, वे ही कामरूप होते हैं, लेकिन जिस बालक को काम के संस्कार नहीं हैं, वह कामरूप नहीं होता। उसी प्रकार अज्ञानी का उपदेश सुनने से भी जिसे पूर्व की ज्ञानी के उपदेश से हुई, देशनालब्धि के संस्कार हैं, वही सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिए उस बालक के दृष्टान्त पर से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मिथ्यादृष्टि के उपदेश से किसी जीव को (पूर्व में ज्ञानी की देशना के बिना भी) सम्यग्दर्शन हो जाता है।

[११] मोक्षमार्ग प्रकाशक के उपर्युक्त कथन जैसा ही कथन लाटी संहिता के पाँचवें सर्ग की १८-१९ वीं गाथा में है। वहाँ कहते हैं कि –

'कोई मुनि मिथ्यादृष्टि भी होते हैं; यद्यपि वे ग्यारह अंग के पाठी होते हैं और महाव्रतादि क्रियाओं का बाह्यरूप से पूर्णतया पालन करते हैं, तथापि उन्हें अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता, इससे वे अपने परिणामों द्वारा सम्यग्ज्ञान से रहित ही होते हैं॥१८॥ यहाँ कदाचित् कोई ऐसी शंका करे कि–'ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियों को जो ग्यारह अंग का ज्ञान होता है, वह केवल पाठ मात्र होता है, उसके अर्थों का ज्ञान उन्हें नहीं होता।'–लेकिन ऐसी शंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शास्त्रों में ऐसा कथन आता है कि–ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियों के उपदेश से अन्य कितने ही भव्य जीवों को सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है....।'

यह खास ध्यान रखना चाहिए कि–द्रव्यलिंगी–मिथ्यादृष्टि मुनियों को परलक्ष्यी ज्ञान का जो विकास होता है, वह मिथ्याज्ञान ही है–ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। मोक्षमार्ग-प्रकाशक की भाँति यहाँ भी देशनालब्धि के स्वरूप की विचारणा का प्रयोजन नहीं है, परन्तु मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी को भी ग्यारह अंग के ज्ञान का परलक्ष्यी विकास होता है, तथापि उसका वह ज्ञान मिथ्या ही है–इतना यहाँ सिद्ध करना है। इसलिए इस कथन का अर्थ समझते हुए भी यह बात समझ लेना चाहिए कि–जिस जीव के पूर्व में ज्ञानी के पास से प्राप्त हुई देशनालब्धि के संस्कार का बल हो, वही सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है।

[१२] इस सम्बन्ध में आत्मधर्म अंक ६० पृष्ठ ३९६-९७ में आ गया है, वह यहाँ दिया जाता है –

'जैनदर्शन ऐसा गम्भीर है कि ज्ञानी पुरुष के सीधे संसर्ग के बिना कोई जीव उसके रहस्य को प्राप्त नहीं कर सकता। इससे शास्त्रों में देशनालब्धि का वर्णन आता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी के शब्दों में कहा जाये तो 'पावे नहि गुरुगम बिना यही अनादि स्थित'—अनादि से ऐसी ही वस्तुस्थिति है कि गुरुगम के बिना अर्थात् देशनालब्धि के बिना कोई जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता। और वह देशनालब्धि मात्र शास्त्र पढ़ने से या अज्ञानी के उपदेश से कोई जीव प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु ज्ञानी के उपदेश का सीधा श्रवण करे, तभी प्राप्त कर सकता है। इसलिए धर्म के अभिलाषी जीवों को एकबार तो अवश्य सत्समागम करके सद्गुरुगम से देशनालब्धि प्राप्त करना चाहिए। ज्ञानी पुरुष के श्रीमुख से आध्यात्मिक उपदेश का साक्षात् श्रवण करना ही आत्मार्थियों को कल्याण का मुख्य कारण है। एकबार तो सत् की रुचिपूर्वक चैतन्यमूर्ति ज्ञानी पुरुष के पास अवश्य श्रवण करना चाहिए। ऐसा करने से ही आत्मा में सत् का परिणमन होता है।'

जो जीव सम्यग्दृष्टि होता है, वह पाँच लब्धिपूर्वक ही होता है, उसमें तीसरी देशनालब्धि है। देशनालब्धि ज्ञानी के उपदेश से होती है, अज्ञानी के उपदेश से कदापि नहीं होती। तथापि अनेक जीव ऐसा कहते हैं कि अज्ञानी के उपदेश से भी देशनालब्धि हो जाती है। वैसा कहनेवालों ने धर्म के यथार्थ निमित्त को भी नहीं जाना है।

जिसने आत्मज्ञानी गुरु के पास से पूर्व में वस्तु का यथार्थ स्वरूप सुना हो और उस समय वह सम्यग्दर्शन प्राप्त न कर सका हो, परन्तु उस देशना के संस्कार रह गये हों—ऐसा कोई जीव द्रव्यलिंगी का उपदेश सुनकर सम्यग्दृष्टि हो जाता है; वहाँ वास्तव में उस जीव को वर्तमान द्रव्यलिंगी के पास से देशनालब्धि प्राप्त नहीं हुई है, किन्तु पूर्व में ज्ञानी के पास से प्राप्त हुई है। जिन जीवों को पूर्व में आत्मज्ञानी के पास से देशनालब्धि प्राप्त न हुई हो और उसके संस्कार न हों, वैसे जीव कभी भी द्रव्यलिंगी के उपदेश से सम्यग्दृष्टि हो ही नहीं सकते।—ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी, अज्ञानी के उपदेश से भी जो देशनालब्धि और सम्यग्दर्शन होना मानते हैं, वे धर्म के सत्य निमित्त का निषेध करनेवाले हैं; धर्म में सत्पुरुष का उपदेश ही निमित्तरूप होता है—ऐसा जो व्यवहार है, उसका ज्ञान भी उन्हें विपरीत है। इसलिए मुमुक्षुओं को धर्म में ज्ञानी पुरुषों का उपदेश ही निमित्तरूप होता है—ऐसा बराबर स्वीकार करके सत्समागम से स्वभाव को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।'

एकत्व स्वभाव और द्वैतभाव

(१) एकबार भी आत्मभान करे तो....

आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव से परिपूर्ण पदार्थ है, वह देहादि से पृथक् है। उस आत्मस्वभाव का भान करके उसमें एकाग्रता द्वारा राग-द्वेष को हटाकर वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट करके जो अरिहन्त भगवान हुए, उनकी वाणी में ऐसा उपदेश आया कि—आत्मा का ज्ञानस्वभाव है; जैसा सिद्ध भगवान का स्वभाव है, वैसा ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है। उस स्वभाव का भान भूलकर अज्ञान और राग-द्वेष में एकता होता है, वही संसार है। आत्मा का मूल स्वभाव अनादि-अनन्त पवित्र शुद्ध होने पर भी, जीव ने उसका भान नहीं किया है, इससे पर्याय में होनेवाले विकार को अपना स्वरूप मानकर भव-भ्रमण में भटकता है। यदि सत्समागम से यथार्थ श्रवण करके एक बार भी आत्म-भान करे तो आत्मा में सिद्ध भगवान जैसा आनन्द प्रगट हो और मुक्ति हुए बिना न रहे। वह आत्मभान कैसे हो? यह बात आचार्य भगवान यहाँ बतलाते हैं।

(२) भ्रान्ति और आत्मभान

भाई! तेरा आत्मा आनन्द स्वभावी है, वह ज्ञाता—साक्षीस्वरूप है। पर में कुछ करने का उसका स्वभाव नहीं है और पर में राग-द्वेष करने का भी उसका स्वभाव नहीं है। उसके बदले मैं पर को बदलूँ और पर में से सुख लूँ—ऐसी जो अज्ञानी की बुद्धि है, वह भ्रान्ति है। अवस्था में वह भ्रान्ति होने पर भी, आत्मा का स्वभाव ज्ञायक मूर्ति शान्त आनन्दकन्द है, उसका कभी नाश नहीं होता। आत्मा अनादि-अनन्त है, उसका प्रारम्भ नहीं है और नाश भी नहीं है। उसका नित्य स्थायी एकरूप रहनेवाला स्वभाव क्या है? उसे जानना चाहिए। अवस्था में जो राग-द्वेषादि भाव हैं, वे तो नवीन होते हैं, आत्मा कहीं नवीन नहीं होता। इसलिए वे राग-द्वेषादि भाव या शरीर-मन-वाणी आत्मा का स्वभाव नहीं है, परन्तु राग-रहित, शरीर-रहित स्थायी ज्ञानानन्दस्वभाव है, उस स्वभाव के भान से भ्रान्ति दूर होती है और शुद्धता प्रगट होती है।

(३) इच्छा का निरर्थकपना

शरीर में रोग हो, उसे दूर करने की जीव इच्छा करता है; परन्तु रोग को वह दूर नहीं कर सकता। इच्छा शरीर में भी कार्य नहीं करती; शरीर अपना नहीं है और इच्छा भी अपना स्वरूप नहीं है, इसलिए इच्छा निरर्थक है, आत्मा के स्वभाव में वह कुछ लाभ नहीं करती और पर में भी कुछ कार्य नहीं करती। आत्मा का स्वभाव तो जानने-देखने का है। इच्छा होती है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। इस प्रकार इच्छा को और आत्मस्वभाव को भिन्न-भिन्न जानकर स्वभाव के

आश्रय से रहने में निर्मल पर्याय की उत्पत्ति होती है। एकरूप आत्मस्वभाव में विकार की उत्पत्ति हो, वह द्वैत भाव है, उस विकार के आश्रय से विकार की उत्पत्ति होती है। वह बात श्री आचार्यदेव इस गाथा में कहते हैं :–

(४) अद्वैत स्वभाव और द्वैत भाव

द्वततोद्वैतमद्वैतादद्वैतं खलु जायते।
लोहाल्लोहमयं पात्रं हेम्नोहेममयं यथा।।

जिस प्रकार लोहे में से लोहमय पात्र की उत्पत्ति होती है तथा सुवर्ण में से सुवर्णमय पात्र की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार आत्मा में अद्वैत के आश्रय से वास्तव में अद्वैत की उत्पत्ति होती है और द्वैत के आश्रय से द्वैत की उत्पत्ति होती है।

'सब मिलकर एक आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ जगत में है ही नहीं'– ऐसा यहाँ अद्वैत का अर्थ नहीं समझना चाहिए। जगत में जीव, अजीव, आदि भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। विकार और भेदरहित आत्मा का पर से भिन्न जो एकरूप स्वभाव है, वह अद्वैत है, उस स्वभाव के आश्रय से निर्मल पर्याय की उत्पत्ति होती है, वह निर्मल पर्याय आत्मा में ही अभेद होती है, इससे वह अद्वैत है। इसलिए कहा है कि अद्वैत के आश्रय से अद्वैत की उत्पत्ति होती है। परपदार्थ और विकारी भाव, वह आत्मा का द्वैत है, उसके आश्रय से द्वैत की अर्थात् विकार की उत्पत्ति होती है।

(५) अद्वैत ज्ञायकस्वभाव, और इच्छा की कार्य–मर्यादा

आत्मा के एकरूप स्वभाव में कुछ इच्छा हो, वह द्वैत है। एक आत्मा को अपने स्वभाव के अतिरिक्त पर-संग से जो भाव होते हैं, वे सब द्वैतभाव अर्थात् विकार भाव हैं। आत्मा का स्वभाव जानने का है, किन्तु परपदार्थों में कुछ फेरफार करने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। प्रतिकूल संयोगों को दूर करना और अनुकूल संयोगों प्राप्त करना, वह इच्छा का कार्य नहीं है। इच्छा होती है, वह ज्ञानस्वभाव से अन्य है, इससे द्वैत है। इच्छा होने पर भी ऐसा मानना चाहिए कि वह इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है, और इसके कारण पर के कार्य नहीं होते। इस प्रकार यदि इच्छा को और आत्मा को भिन्न जानकर इच्छा रहित अकेले आत्मा का आश्रय करे तो उस अद्वैत के आश्रय से अद्वैतभाव की–शुद्धपर्याय की–उत्पत्ति होती है। निर्मल अवस्था में शुद्धता की तारतम्यता के अनेक प्रकार होते हैं, तथापि प्रत्येक पर्याय एकत्व स्वभाव में ही अभेद होती है, उस अपेक्षा से उसमें अद्वैतपना है। कोई पर्याय अभेद स्वभाव का आश्रय नहीं छोड़ती, किन्तु अभेद के आश्रय से द्रव्य-पर्याय की एकता ही होती है, इससे उसे अद्वैत कहा है। पर के या पर्याय के

आश्रय से राग की उत्पत्ति होती है और द्रव्य-पर्याय में भेद होते हैं, इसलिए वह द्वैत है। जगत् के पदार्थों से तो आत्मा पृथक् ही है; तथापि पर के साथ अपने को अद्वैत माने–पर का मैं करता हूँ–ऐसा माने–वह तो स्थूल अज्ञान है। यहाँ तो एक आत्मा में ही द्वैत और अद्वैत की बात है। राग-द्वेषादिभाव हों, वह आत्मा के स्वभाव से द्वैत हैं–अन्य हैं। उन रागादि से आत्मा को लाभ मानना अर्थात् रागादि भावों के साथ आत्मा का अद्वैत मानना भी मिथ्यात्व है। विकार रहित और अवस्था के भंग-भेद रहित त्रिकाल एकरूप ज्ञायकस्वभाव है, वह अद्वैत है; उसको पहचानकर उसका आश्रय करने से निर्मल वीतरागभाव प्रगट होता है–उसका नाम धर्म है।

(६) ज्ञान, इच्छा और शरीर की क्रिया – तीनों का भिन्नत्व

आत्मा ज्ञायक है। ज्ञाता आत्मा तो पदार्थों का ज्ञाता है; उस ज्ञाता स्वभाव के बदले अज्ञानी जीव इच्छा को सार्थक मानता है। इच्छा से मुझे लाभ होता है और इच्छा द्वारा मैं पर में परिवर्तन कर दूँ–यह मान्यता मिथ्या है। अज्ञानी जीव, आत्मा के अकेले–अद्वैत–ज्ञानस्वभाव को न मानकर, ज्ञान और इच्छा को एकरूप मानकर द्वैत अर्थात् विकार भाव की उत्पत्ति करते हैं। अपना ज्ञान और सुख स्वभाव है, उसे जान ले तो इच्छा को अपना स्वरूप न माने–इससे इच्छा में और पर में सुख न माने। जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है, किन्तु पर से भिन्न अपने एकत्वस्वभाव को कभी नहीं जाना। यदि एकत्वस्वभाव को जानले तो पर-संग रहित एकत्वदशा–मुक्ति-प्रगट हुए बिना न रहे।

इच्छा को आत्मा की माने बिना उससे लाभ नहीं मान सकता। जो इच्छा से आत्मा का कार्य होना माने, उसने आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं माना, किन्तु इच्छा को अपना स्वरूप मानकर आत्मा के स्वभाव को द्वैतरूप माना–इससे उसे विकार से पृथक् होकर निर्मलदशा नहीं होती। जड़ की अवस्था स्वतन्त्ररूप से होती है, उसमें आत्मा की इच्छा कार्य नहीं करती। यदि कभी इच्छानुसार शरीर की निरोगता रहे तो वह भी आत्मा की इच्छा के कारण नहीं हुआ है। जब तक इच्छा को निरर्थक न माने, तब तक इच्छा से भिन्न आत्मस्वभाव को नहीं जान सकेगा और ज्ञान सच्चा नहीं होगा। जिसने इच्छा को अपना माना, उसने ज्ञानस्वभावी अकेले आत्मा को द्वैतरूप से माना है, वह मिथ्या मान्यता है, उसमें से संसार की उत्पत्ति होती है। आत्मा का अखण्ड चैतन्यस्वभाव है, पर से भिन्न और स्वभाव से एकरूप–ऐसे एकत्व स्वभाव की श्रद्धा करे तो संसार छूटकर जीव अकेला–मुक्त हुए बिना न रहे।

आत्मा के ज्ञानस्वभाव में इच्छा नहीं है। इच्छा वह विकृति है, आकुलता है। मोक्ष की इच्छा भी विकार है। जगत् में जो भी इच्छा है, वह दुःखरूप है,–ऐसा जिसे भान नहीं है, वह

स्वभाव की एकता छोड़कर इच्छा से लाभ मानता है, उसे द्वैतभाव की—राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है।

(७) सुख और दुःख

आत्मा स्वयं स्वभाव से सुखरूप है, किन्हीं बाह्य संयोगों में से उसका सुख नहीं आता। जीव के अपने स्वभाव में दुःख नहीं है और संयोगों में भी दुःख नहीं है, किन्तु स्वभाव से च्युत होकर परवस्तुओं के लक्ष्य से अपनी अवस्था में दुःख बनाया है। पर में मेरा सुख है—ऐसी कल्पना जीव को स्वतन्त्र सुखस्वरूप नहीं होने देती।

(८) आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की शक्ति

कच्चे चने में मिठास भरी है, वह उसे सेकने से प्रगट होती है; वह मिठास उसके स्वभाव में से ही प्रगट हुई है, किसी संयोग में से नहीं आयी है। जिस प्रकार कच्चे चने का स्वाद बुरा लगता है और वह बोने से उगता है; लेकिन उसे सेकने से मिठास प्रगट होती है और बोने से उगता नहीं है। उसी प्रकार आत्मा का आनन्दस्वभाव है, उसमें तूराश नहीं है। अवस्था की कचास से तूराश यानी दुःख है, और जन्म-मरणरूपी संसार में उगता है। यदि अवस्था में वह दुःख न हो तो स्वभाव का भान और एकाग्रता करके उसे दूर करना नहीं रहता। अवस्था में कचास होने पर भी, शक्तिरूप से ज्ञान और आनन्द से भरपूर है—ऐसा भान करके उसमें एकाग्र हो तो पर्याय में ज्ञान और आनन्द व्यक्त हो,—इससे आत्मा को दुःख नहीं रहेगा और पुनः जन्म-मरण में नहीं उगेगा। अपने ज्ञाता स्वभाव में आनन्द है, उसे भूलकर पर के करण मुझमें आनन्द है—ऐसा माना है, वह मान्यता ही उसे पराश्रयभाव से छुटकर स्वतन्त्र आनन्दरूप नहीं होने देती। सिद्ध भगवान और अरिहन्त भगवान को जो परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द प्रगट हुए हैं, वे आत्मा की शक्ति मे से ही प्रगट हुए हैं, और प्रत्येक आत्मा में वैसी शक्ति विद्यमान है। यदि स्वभाव में ही शक्ति न हो तो करोड़ों उपाय करने से भी बाह्य संयोगों में से वह नहीं आ सकती। और स्वभाव में ही जो शक्ति है, वह प्रगट होने के लिए बाह्य संयोगों की अपेक्षा नहीं रखती, किन्तु स्वभाव के ही आश्रय से प्रगट होती है।

(९) संसार के मूल को उखाड़ डालने की बात

आत्मा ज्ञान-अमृत की मूर्ति है; उसे समझे बिना संसार के मूल का नाश नहीं होगा। मिथ्यात्व, संसार का मूल है; उस मिथ्यात्वरूपी मूल को उखाड़े बिना पुण्यभाव करके स्वर्ग में जाये तो भी संसार तो बना ही रहेगा। राग-द्वेष बिल्कुल दूर हो जाने के पहले आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव की दृष्टि और ज्ञान से संसार के मूल को उखाड़ देने की यह बात है। ऐसी स्वभावदृष्टि और ऐसा ज्ञान किए बिना किसी को कभी राग-द्वेष दूर नहीं होते और न मुक्ति होती है, किन्तु प्रतिक्षण अधर्म ही होता है।

(१०) स्वभावबुद्धि और संयोगबुद्धि

यहाँ आचार्य भगवान ऐसा कहते हैं कि स्वभावबुद्धि से जीव को वीतरागता की उत्पत्ति होती है और संयोगबुद्धि से विकार को उत्पत्ति होती है। संयोग से स्वभाव प्रगट नहीं होता। निमित्त, संयोग है और उपादान स्वभाव है। कर्म आदि कोई भी संयोग आत्मा को आवरण का कारण नहीं है, किन्तु उन संयोगों में अपनेपन की मिथ्या-भ्रान्ति ही आवरण का कारण है। वह के वही संयोग बने होने पर भी यदि स्वभाव की दृष्टि करके स्थिर हो तो विकार नहीं होता। जिस प्रकार संयोग आवरण का कारण नहीं है, उसी प्रकार देव-गुरु-शास्त्र आदि संयोग जीव की मुक्ति का कारण नहीं है। स्वयं अपने एकत्व स्वभाव को पहचानकर उसके आश्रय से स्थिर हो, तभी मुक्ति होती है।

(११) आत्मा का त्रिकाली स्वभाव की ओर एक समयपर्यंत की इच्छा

इच्छा आत्मा का स्वभाव नहीं है, तथापि अवस्था में एक समयपर्यंत की इच्छा का अस्तित्व है। इच्छा का यदि बिल्कुल अभाव ही हो तो स्वभाव में उसका आरोप नहीं हो सकता। अवस्था में एक समयपर्यंत की इच्छा है, वहाँ उसे जानते हुए, इच्छा ही मैं हूँ–इस प्रकार अज्ञानी को उसका स्वभाव में आरोप हो गया है। आत्मा के मूल अनारोप स्वभाव में इच्छा नहीं है, उस अनारोप स्वभाव को नहीं जाना, इससे इच्छा में आरोप करके, इच्छा ही मैं हूँ–ऐसा अज्ञानी ने मान लिया है। इच्छा से रहित अकेले ज्ञाता स्वभाव की रुचि हुए बिना कभी द्वैत अर्थात् संसार दूर नहीं होता और मुक्ति की योग्यता प्रगट नहीं होती।

(१२) धर्म और अधर्म

आत्मा का नित्यस्थायी सत् एकरूप स्वभाव क्या है–उसकी यह बात है। चैतन्यस्वभावी आत्मा ज्ञानस्वभावरूप रहे, वह धर्म है और विकाररूप हो, वह अधर्म है। धर्म का प्रारम्भ सत् स्वभाव को यथावत् समझने से होता है। सत् स्वरूप के बदले जो पर के आश्रय से लाभ मानता है, उसे धर्म नहीं होता। इच्छा विकार है, शुभ इच्छा से धर्म का लाभ होता है–ऐसा माने तो विकार, कारण और निर्विकारी, कार्य–ऐसा हुआ; वह मिथ्या मान्यता है।

(१३) जिसकी मुख्यता उसकी उत्पत्ति

लोग 'मैं आत्मा नवीन हुआ'–ऐसा नहीं कहते हैं, किन्तु 'मुझे यह इच्छा नवीन हुई'–ऐसा कहते हैं; क्योंकि इच्छा स्वभाव में नही है, उसकी उत्पत्ति नवीन होती है। शुभराग हो तो ठीक –ऐसा जो मानता है, वह ज्ञाता को अकेला श्रद्धा में नहीं लेता, किन्तु इच्छा को–राग को आगे मुख्य करके, राग और आत्मा को एकत्रित मानकर द्वैत की प्रतीति करता है। उसे द्वैत की अर्थात्

विकार की और संयोग की उत्पत्ति होगी, किन्तु असंयोगी-मुक्ति की उत्पत्ति नहीं होगी। मैं अकेला ज्ञाता हूँ; राग, वह मैं नहीं हूँ—इस प्रकार ज्ञानस्वभाव को आगे करके जिसने एकत्व आत्मा की प्रतीति की, उसके विकार की और परसंग की उत्पत्ति नहीं होगी, किन्तु शुद्ध और असंयोगी मुक्तदशा की उत्पत्ति होगी।

जिसप्रकार सोने का स्वभाव कादव के संग रहित अकेला रहने का है, उसमें से कादव की (कीच की) उत्पत्ति नहीं होती और जंग नहीं लगती, तथा सोने में से सोने की ही दशा होती है। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञाता स्वभाव है, वह कर्म आदि परसंग के बिना रहे, वैसा उसका स्वभाव है, और उसमें से विकार की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु उस स्वभाव के आधार से तो शुद्धदशा की ही उत्पत्ति होती है। जिसने ऐसे एकत्व ज्ञाता स्वभाव की प्रतीति की है, उसके एकत्वभाव की उत्पत्ति होगी और विकाररूपी जंग नहीं लगेगी तथा कर्म आदि संयोग भी उसे नहीं होगा। जिस प्रकार लोहे में से लोहे की ही दशाएँ होती हैं, और कादव के संग से उसे जंग लगे, ऐसी उसकी योग्यता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव, विकार ही मैं हूँ—ऐसा मानता है, उसे उस अज्ञानभाव में से विकार की ही उत्पत्ति होती है, और कर्म आदि संयोग दूर नहीं होता।

(१४) कल्याण का पथ

भगवान कहते हैं कि जिसने एक आत्मा को जाना, उसने सबकुछ जान लिया। आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान सामर्थ्य है; आत्मा के असंयोगी, ज्ञानस्वभाव को जाने बिना व्रत, दान आदि चाहे जो करे किन्तु जीव कल्याण के पथ पर आगे नहीं बढ़ता। अपने आत्मा के एकत्व स्वभाव को सत्समागम से बराबर जानकर अपनी पर्याय को स्वोन्मुख करके एकत्व करना ही कल्याण का पथ है।

(१५) अवस्था की योग्यता

यहाँ आचार्यदेव ने सोने और लोहे का दृष्टान्त दिया है। सोने और लोहे का स्वभाव जंग लगने का नहीं है, किन्तु लोहे में जंग की वर्तमान योग्यता है, सोने में काट की योग्यता भी नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानी या अज्ञानी—किसी के स्वभाव में विकार नहीं है; किन्तु अज्ञानी को वर्तमान अवस्था में स्वभाव को चूककर पराश्रयभाव से विकार की योग्यता है। ज्ञानी ने अभेद स्वभाव के आश्रय से उस अवस्था के विकार की योग्यता का भी नाश कर दिया है।

(१६) विपरीतमार्ग पर अगाध प्रयत्न

आत्मा का स्वभाव क्या है—उस ओर जो अपने वीर्य को नहीं ले जाता, वह उसे विकार की ओर लाकर पर का मैं करता हूँ—ऐसा मिथ्या अभिमान करके त्रिकाली ज्ञाता स्वभाव की श्रद्धा छोड़ देता है; वह यदि अगाध प्रयत्न करे तो भी उसका फल सुलटा नहीं आयेगा। उसका प्रयत्न ही विपरीत है। यथार्थ पुरुषार्थ करे तो ऐसा नहीं हो सकता कि कार्य प्रगट न हो। विपरीत मार्ग पर

चाहे जितना दौड़े तथापि निश्चित स्थानपर नहीं पहुँचा जा सकता, उसी प्रकार विपरीत मान्यता रखकर जीव चाहे जितना करे, तथापि उसे धर्म नहीं होता।

(१७) ज्ञानी समझाते है कि अरे जीव!....

आत्मा का सहज ज्ञाता स्वभाव है; वह पर से भिन्न और विकार रहित है।–ऐसे सहज ज्ञाता स्वभाव में जो विकार से और पर से भला मानता है, उसे ज्ञानी समझाते हैं कि–अरे जीव! इस मान्यता को छोड़ दे! विकार में आत्मबुद्धि, वह मिथ्यात्व है, उस विपरीत आत्मबुद्धि को छोड़! विकार से तुझे लाभ नहीं है। विकार तो तेरे सहज स्वभव का शत्रु है, उससे आत्मा को लाभ मानना छोड़ दे। विकार द्वारा तू परवस्तु को अपनी बनाना मानता है, परन्तु परवस्तु कभी तेरी नहीं होती। तूने अनादि से पर को–शरीर को अपना बनाकर रखने का प्रयत्न किया–मोह किया, लेकिन एक रजकण भी तेरा नहीं हुआ; और वह विकार भाव भी तेरे स्वभाव के साथ स्थायी नहीं रह सका; क्योंकि जो वस्तु तेरी सत्ता में नहीं है, वह कभी तेरी नहीं हो सकती। तेरी त्रिकाली चैतन्यसत्ता है, किन्तु तूने कभी अपनी सत्ता–सन्मुख होकर उसको नहीं सँभाला। अहो! मैं कौन हूँ? यह बात पात्र होकर सत्समागम से समझने का अवसर प्राप्त हुआ, तब नहीं समझा। कभी अन्तर में पात्रता लाकर इस बात का श्रवण भी नहीं किया। भाई! अनन्तकाल में ऐसी मनुष्य देह प्राप्त हुई है और सत् समझने का अवसर आया है, इस समय यदि सत् समझने का मार्ग अन्तर में ग्रहण न किया तो किसी प्रकार तेरे चौरासी के अवतारों का अन्त नहीं आयेगा।

(१८) मुक्त जीव को अवतार नहीं होता

विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है। एक बार भी स्वभाव का भान करके विकार का सर्वथा नाश करे तो सिद्धदशा प्रगट हो, फिर उस जीव को कभी विकार की उत्पत्ति न हो और न वह संसार में अवतार धारण करे। देखो, इस समय भी जीव विकार को बढ़ाना नहीं किन्तु घटाना चाहते हैं; और हिंसा, चोरी, अब्रह्म आदि जिस विकार को कम किया, उसे पुनः होने नहीं देना चाहते। तब फिर जिसने सम्पूर्ण विकार का नाश कर दिया, उसे फिर से विकार हो और अवतार धारण करे–ऐसा कभी हो हीं नहीं सकता। क्योंकि विकार होना आत्मा का स्वभाव नहीं है। प्रथम, विकार सर्वथा दूर हो जाने से पूर्व ऐसा भान करना चाहिए। ऐसा भान होने के पश्चात् क्रमशः विकार का नाश होता है; ऐसे भान बिना कभी विकार दूर नहीं होता।

(१९) एकत्व आत्मा का सुशोभितपना

आत्मा अपने एकत्व स्वभाव में निश्चल रहे, वह शोभायमान है। आत्मा के एकत्व स्वभाव की बात सुन्दर है, और एकत्व स्वभाव में बन्धन की–विकार की बात विसंवाद उत्पन्न करनेवाली है, दुःखरूप है,–ऐसा आचार्यदेव ने समयसार में कहा है। लोग भी कहते हैं कि 'दूनी हो।' वहाँ

दोपने की व्याख्या क्या है? एक त्रिकाल ज्ञानमय स्वभाव और दूसरा विकार,–यह दोनों परमार्थ से पृथक् हैं, विकार वह स्वभाव नहीं है और स्वभाव में विकार नहीं है–इस प्रकार दोनों पृथक् होने पर भी, जो उन्हें पृथक् नहीं जानता किन्तु एकमेक मानता है,–इससे दो में एकपना मानने से उसकी श्रद्धा बिगड़ती है। ज्ञाता-स्वभाव एकरूप है, उसे न मानकर, ज्ञानस्वभाव भी मैं और विकार भी मैं–इस प्रकार दो-रूप माना, उस जीव की अवस्था मिथ्याश्रद्धा से बिगड़ती है।

(२०) द्वैत के आश्रय से द्वैत की–विकार की उत्पत्ति

आत्मा पर से तो त्रिकाल भिन्न है, और क्षणिक पुण्य-पाप से भी परमार्थतः पृथक् है; उनके साथ आत्मा की एकता मानना, वह तो द्वैत और विकार की उत्पत्ति का कारण है; परन्तु एक अभेद आत्मा में गुण-भेद से द्वैत की कल्पना करना भी विकार का कारण है। एक अभेद आत्मस्वभाव में अनन्तगुण हैं, अनन्त गुणों के अभेद पिण्ड में 'मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ'–इत्यादि भेद का विकल्प भी द्वैत है, उस द्वैत के आश्रय से आत्मा को लाभ नहीं होता। एक आत्मा में 'मैं ज्ञान,मैं दर्शन, मैं आनन्द'– ऐसे तीन प्रकार के रागमिश्रित विचार, वह द्वैत है, उससे जो लाभ माने, वह मिथ्यादृष्टि है। राग से लाभ माने, वह तो मिथ्यादृष्टि है ही, और अभेद निश्चय स्वभाव के आश्रय को छोड़कर भेदरूप व्यवहार के आश्रय से लाभ की बुद्धि भी मिथ्यात्व है; क्योंकि भेद के आश्रय से भी राग की ही उत्पत्ति होती है। अभेद स्वभाव की एकता के आश्रय से वीतरागता होती है। अभेद स्वभाव में गुण-भेदरूप द्वैत के विचार की श्रेणी से भी द्वैतपने की अर्थात् राग की उत्पत्ति होती है।

(२१) ...अब अन्तर स्वभाव सन्मुख हो भाई!

अपने पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करने से सत्धर्म का प्रारम्भ होता है, और पूर्णता भी उसी के आश्रय से होती है। देखो भाई! यह तो आत्मा के अंतर्मुख होने की बात है। अनन्तकाल से बहिर्मुख होकर भटक रहा है। बहिर्मुखभाव अनन्तकाल तक किए, अब अन्तर स्वभावसन्मुख हो। भाई! इसके अतिरिक्त शान्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। अन्तरसन्मुख होकर स्वभाव का आश्रय किए बिना सम्यक् प्रतीति नहीं होती; एकत्व स्वभाव की सम्यक् प्रतीति के बिना एकत्व में लीनता नहीं होती; और एकत्व स्वभव में लीनता के बिना एकत्व दशा अर्थात् मुक्ति नहीं होती। जिस प्रकार सोने में से सोने के आभूषणों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार आत्मा के एकत्व की प्रतीति और आश्रय से एकत्व की अर्थात् मुक्ति की उत्पत्ति होती है। पर से भिन्न एकत्व स्वभाव क्या है? एकत्व कहो या परिपूर्ण कहो; क्यों कि एक हो, वह स्वयं से परिपूर्ण ही होता है।–ऐसे अपने स्वभाव का अन्तर में कभी स्पर्श नहीं है–प्रीति जागृत नहीं हुई है, और सत्समागम से उसे समझने की दरकार नहीं की है। स्वभाव को रुचि और प्रतीति बिना मुक्ति का प्रारम्भ नहीं होता। अन्तर में चैतन्यस्वभाव की रुचि करना, यह एक ही मुक्ति का उपाय है।

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

समयसार -प्रवचन (भाग-१)	[पू० श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन] मूल्य ६-०-०
समयसार -प्रवचन (भाग-२)	[पू० श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन] मूल्य ६-०-०
समयसार -प्रवचन (भाग-३,४)	तैयार हो रहे हैं।
मोक्षशास्त्र-टीका	तैयार हो रहा है।
भेदविज्ञान सार	[पूज्य श्री कानजीस्वामी के धार्मिक महोत्सव के दिनों में समयसार पर प्रवचन, छप रहा है।
जैन बालपोथी	०-४-०
मुक्ति का मार्ग (सत्तास्वरूप पर प्रवचन)	०-१०-०
मूल में भूल (उपादान-निमित्त संवाद)	०-१२-०
वस्तुविज्ञान सार (जैन गीता)	जिज्ञासुओं को भेंट
नन्दीश्वर-द्वीप पूजन	०-१२-०
दशलक्षण-धर्म प्रवचन	०-१२-०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें (आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंट)	१-२-०
प्रवचनसार (अक्षरशः हिन्दी अनुवाद)	१-२-०
आत्मधर्म की फाइलें	३-१२-०

[इस शास्त्रमाला की ५१ पुस्तकें प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें गुजराती भाषा में हैं, उनका सूची पत्र मँगा सकते हैं।]

–: मिलने का पता :–

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया (अमरेली)